दैनिक जीवन में विज्ञान - शृंखला

आयुर्वेद कल, आज और कल

पं. काशीनाथ गोपाल गोरे

दैनिक जीवन में विज्ञान - श्रृंखला

श्रृंखला संपादक – डा. नरेन्द्र नाथ मेहरोत्रा एवं पं. माधवाचार्य

	शीर्षक	लेखक
1.	हमारे घर	*श्री वीनू काले व श्री मोहन थपलियाल*
2.	दंत सुरक्षा	*डा. सी. एस. सैंबी व पं. काशीराम गोपाल गोरे*
3.	तुलसी की आत्मकथा	*पं. माधवाचार्य*
4.	आयुर्वेद कल आज और कल	*पं. काशीराम गोपाल गोरे*
5.	पाचन ठीक तो सेहत अच्छी	*डा. पुनीत मेहरोत्रा एवं वैद्य सुल्तान अली खां*
6.	पशु रोगों की वर्णमाला	*डा. एम. पी. शुक्ला एवं डा. पी. के त्रिपाठी*
7.	दुर्घटना में प्राथमिक चिकित्सा	*डा. डी. पी. सिंह व वैद्य सुल्तान अली खां*
8.	आयुर्वेद में प्रकृति एवं स्वास्थ्य	*वैद्य सुल्तान अली खां*
9.	**Hostile Germs**	***Dr. Prem Sagar***

जीवनीय सोसायटी लखनऊ द्वारा राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्,
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार से प्राप्त आंशिक अनुदान
से प्रकाशित

दैनिक जीवन में विज्ञान - श्रृंखला

आयुर्वेद कल, आज और कल

पं. काशीनाथ गोपाल गोरे

श्रंखला संपादक

डा. नरेन्द्र नाथ मेहरोत्रा

पं. माधवाचार्य

जीवनीय सोसायटी लखनऊ द्वारा राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्,
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार से प्राप्त आंशिक अनुदान
से प्रकाशित

आयुर्वेद कल, आज और कल

© सर्वाधिकार जीवनीय सोसायटी व राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद
के आधीन सुरक्षित, 2003

लेखक
पं. काशीनाथ गोपाल गोरे

श्रृंखला संपादक
डा. नरेन्द्र नाथ मेहरोत्रा
पं. माधवाचार्य

प्रोडक्शन
के. बी. सिंह
के. साजी

प्रकाशन एवं वितरण
जीवनीय सोसायटी, ई-III/249, सेक्टर-एच, अलीगंज, लखनऊ
फोन : 0522-2761097

मूल्य : रु. 25/-

इस पुस्तक में प्रकाशित सामग्री के किसी भी भाग को, ज्यों का त्यों या फेरबदल कर, किसी भी रूप में उपयोग करने से पहले प्रकाशक की लिखित अनुमति लेना आवश्यक है।

मुद्रक - सी. जी. एण्ड कंपनी, 16, बी कचहरी रोड, अमीनाबाद, लखनऊ।
फोन नं. : 2212513, 2217738

प्राक्कथन

दैनिक जीवन में विज्ञान-श्रंखला में कुछ पुस्तकें तैयार करने का विचार जीवनीय सोसायटी द्वारा विज्ञान पत्रकारिता पर आयोजित किए गए प्रमाण पत्र प्रशिक्षण कार्यक्रमों के दौरान प्रशिक्षार्थियों व शिक्षकों के बीच हुए संवाद का प्रतिफल है। यह अनुभव किया गया कि जीवन के अनन्य पहलुओं में जो आधुनिक व पारम्परिक विज्ञान का समावेश है उसकी प्रस्तुति जन-जन के लिए किया जाना उपयोगी रहेगा। यह आशा की गई कि सरल हिंदी व अंग्रेजी में तैयार की गई ये छोटी-छोटी पुस्तिकाएं भाषा व प्रस्तुति हेतु अलग-अलग शैलियों में बनाई जाएं ताकि समाज के सभी वर्ग-बच्चे-बड़े, गृहिणियां, विद्यार्थी-शिक्षक आदि इसका पूरा लाभ उठा सकें।

इन पुस्तिकाओं को तैयार करने व प्रकाशन हेतु राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्, भारत सरकार ने आर्थिक अनुदान उपलब्ध कराया, जिसके लिए हम उनके विशेष आभारी हैं। उसके वरिष्ठ अधिकारी डा. मनोज पटैरिया ने इन पुस्तिकाओं के सम्बन्ध में समय-समय पर सम्पादकीय सुझाव दिये हैं जिसके लिए हम उनके सदैव कृतज्ञ रहेंगे।

आयुर्वेद प्राचीन भारतीय विज्ञान का उत्कृष्टतम रूप है। कालान्तर में ठहराव के बाद आज यह पुनः प्रगति पथ पर अग्रसर है। आशा है ऐतिहासिक कथानक के रूप में प्रस्तुत यह पुस्तक पाठकों में आयुर्वेद के प्रति जिज्ञासा पैदा करने में सफल होगी।

जीवनीय सोसायटी से जुड़े चिकित्सकों, वैज्ञानिकों व लेखकों के सामूहिक प्रयास से जीवनीय पत्रिका का प्रकाशन लगभग 10 वर्षों तक किया गया जिसमें छपे लेखों व अन्य सामग्री के आधार पर इस पुस्तक के संकलन में पं. माधवाचार्य जी ने अभूतपूर्व योगदान किया है। संस्था से जुड़े सभी साथियों, विशेषकर श्री के.बी. सिंह, श्री के.साजी व सुश्री वीना टंडन के हम विशेष आभारी है जिन्होंने इस पुस्तिका के प्रकाशन में महती योगदान दिया है। मे. सी.जी. एण्ड कम्पनी द्वारा अल्प समय में प्रकाशन में सहयोग हेतु हम उनके भी विशेष आभारी हैं।

संपादक मंडल

आयुर्वेद कल, आज और कल

आयुर्वेद व भारतीय दर्शन

समस्त शास्त्रों का प्राचीन उद्गम ईश्वर माना गया है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश ये सदैव समस्त ब्रह्माण्ड के सर्जक, पालक और संहारक हैं और इन्हें समस्त शास्त्रों का कारण माना जाता है। प्रत्येक भारतीय शास्त्रों का उद्भव इन त्रिदेवों में से किसी एक से हुआ है। जैसे संगीत शास्त्र अर्थात गायन-वादन-नर्तन का उद्गम महेश से माना गया है उसी प्रकार आयुर्वेद का उद्गम ब्रह्मा से माना गया है। इसीलिए इसे पंचमवेद भी कहते हैं। मानव द्वारा रचित न होने के कारण इसे अपौरुषेय कहा जाता है।

अपयुर्वेदो आदि रनन्तश्चतुर्मुखेणादावनुगीतः।
अथर्ववेदादपौरुयाज्जीवानां जीवनाय जातः।।

ईश्वर प्रणीत होने के कारण आयुर्वेद अनादि है इसमें जीवन से संबद्ध सभी विषयों का समावेश हो जाता है। यह सृष्टि के अन्त तक रहेगा और ईश्वर में लीन हो जायगा, अतः आयुर्वेद अनन्त है। सर्वप्रथम आयुर्वेद का प्रणयन ब्रह्मा द्वारा किया गया है। यह अथर्ववेद का अंगभूत है। इसका उद्गम जीवमात्र के सुखी एवं स्वस्थ जीवन के प्रयोजन से हुआ है। इस प्रकार आयुर्वेद एक दैवी विद्या है, मानुषी नहीं।

कृतयुग में अजरत्व और अमरत्व की प्राप्ति के लिए देव दानवों ने मिलकर मन्दराचल को मथानी और वासुकि नाग को रस्सी के रूप में प्रयोग कर महासागर का मंथन किया था। मंथन से अनेक रत्न उत्पन्न हुए, अन्त में विष्णु के अंशापन्नवतार श्री धन्वन्तरि अमृत कलश लेकर प्रकट हुए। देवों के लिए (अमरत्व) चिरजीवन और मनुष्यों के लिए अजरत्व (चिरयौवन) धन्वन्तरि

के अवतार का प्रयोजन था। धन्वन्तरि आयुर्वेद के व्याख्याता थे। 'अमृत' अर्थात जरा और मृत्यु पर विजय आयुर्वेद के अन्तिम प्रयोजन की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

जैसा कि 'आयुर्वेद' नाम से ही स्पष्ट है इस ज्ञानकोष का संबंध आयुष्य से, उसकी वृद्धि उसकी आनन्दमयता और सुखी और हरष करने में तत्पर रोगों की दूर करने से है। इसीलिए आयुर्वेद में स्वस्थ वृत्त, उचित आहार-विहार, और पथ्यापथ्य पर विशेष ध्यान दिया गया है। चूंकि रोग आयुष्य का हरण करते हैं, जीवन में दुःख पैदा करते हैं, अतः प्रसंगतः आयुर्वेद में रोग निदान, चिकित्सोपचार आदि भी वर्णित है। अतः आयुर्वेद को मात्र चिकित्सा शास्त्र के रूप में समझना सही नहीं है, यह जीवन का नियामक शास्त्र है।

सुश्रुताचार्य ने स्वस्थ व्यक्ति की परिभाषा निम्नवत् दी है:

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

जिसके शरीर में वात-पित्त-कफ ये तीनों दोष, पाचकाग्नि-भूताग्नि-धात्वग्नि ये ऊर्जा के तीनों रूप, रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि -मज्जा-शुक्र ये सात धातु, शुक्र धातु छोड़कर शेष छः धातुओं के मल, ये सब सम अर्थात उचित अनुपात में हों और जिस व्यक्ति की इन्द्रियां (पंच कर्मेन्द्रिय और पंचज्ञानेंद्रिय) उचित रूप से क्रियाशील हैं, मन तथा आत्मा प्रसन्न निष्पाप से परिपूर्ण हो वही व्यक्ति स्वस्थ है। स्वस्थ व्यक्ति की ऐसी परिपूर्ण सर्वांग पूर्ण परिभाषा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। पंच कर्मेन्द्रियों की सम क्रियाशीलता से कर्म कल्पनाप्रवण मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों से बुद्धि तत्व की विवेकशीलता का ही समावेश, इसमें नहीं है अपितु, 'स्व' का तात्पर्य भी मूलतत्व, सार, आत्मा से

है। जो व्यक्ति सभी प्रकार से जागरुक हो, जिसका आत्मतत्व माया से छिपा हो वही दार्शनिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। यह परिभाषा समता पर आधारित हैं जब तक शरीर में दोषरहित समत्व नहीं होता वह स्वस्थ नहीं हो सकता और जब तक मन, बुद्धि और आत्मा समत्व प्राप्त नहीं करते तब तक व्यक्ति स्वस्थ नहीं कहा जा सकता।

महर्षि चरक ने भी बताया है-

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्राकृतिरुच्यते

धातुओं की विषमता से विकार उत्पन्न होते हैं और यदि साम्य/समत्व शरीर में बना रहे तो वह वह प्रकृति अर्थात सही स्थिति या स्वस्थता है।

समता या समत्व का सिद्धान्त विश्वव्यापी है। सभी शास्त्र किसी न किसी रूप से समत्व पर आधारित है। श्रीमद्भागवद्गीता में भी समत्व को योग कहा गया है तथा समत्व संपन्न व्यक्ति को योगी या 'युक्त' कहा गया है। गीता का वचन है-

समत्वं योग उच्यते

गीता में उपदेश है कि जिस व्यक्ति में समत्व नहीं है, अर्थात जो 'युक्त' नहीं है वह सुख नहीं प्राप्त कर सकता। यथा-

नास्ति बुद्धिरयुक्त न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तरशान्तस्य कुतः सुखम्।।

अयुक्त अर्थात विषमशील, जिसने समत्व प्राप्त नहीं किया है, उसकी बुद्धि, विश्वास और श्रद्धा स्थिर नहीं होती और बुद्धि स्थिर न होने से अशान्त रहना स्वाभाविक है। इस प्रकार जो व्यक्ति अशान्त हो उसे सुख कहां से प्राप्त हो सकता है? सुखी होने के लिए चित्त और बुद्धि उद्वेगरहित शान्त

होनी चाहिए और बुद्धि की स्थिरता समत्व के बिना प्राप्त नहीं होती।

योग : कर्मसु कौशलम्

गीता के अनुसार समत्व योग है और योग ही कर्तव्य कर्म में कुशलता है गीता में कहा गया है-

नात्यश्नतु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वपन्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्व योगो भवित दुःखहा।।

अर्थात् आवश्यकता से अधिक भोजन करने वाले को योग साध्य नहीं है। इसी प्रकार बिल्कुल न चाहने वाले के लिए भी योग दुर्लभ है। जो निरन्तर सोता रहता है या जो निरन्तर जागता रहता है उसे भी योग साध्य नहीं होता, जिस व्यक्ति का आचार और विचार समत्वयुक्त अर्थात् युक्तियुक्त रूप से उचित है, जो कर्तव्य कर्म में उपयुक्त और पर्याप्त प्रयत्न करता है तथा निद्रा और जागरण में अनुपात रखता है, उसे ही योग साध्य होता है और ऐसे व्यक्ति का दुःख योग हरण करता है।

इस प्रकार आयुर्वेद और गीता दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में मनुष्य के दुःखहरण के उपाय बताते हैं और दोनों के उपाय एक दूसरे से संगत और समत्व के सिद्धान्त पर आधारित है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार समस्त जगत् परमाणुओं से बना है। प्रत्येक परमाणु में मुख्यतया प्रोटान, इलेक्ट्रान और न्यूट्रान होते हैं, न्यूट्रान तो सदैव समत्वयुक्त अर्थात् उदासीन होता है। प्रोटान में धनावेश और इलेक्ट्रान में प्रोटान के आवेश के तुल्य ऋणावेश होता हैं जब तक किसी परमाणु के मूल

तत्वों अर्थात् प्रोटान, और इलेक्ट्रान के धन एवं ऋण आवेशों में समता नहीं होती, तब तक वह परमाणु अस्थिर और आयनीकृत बना रहता है और यथाशक्ति शीघ्र धनावेश या ऋणावेश की पूर्ति कर समता प्राप्त करता है। सृष्टि की इस मूलभूत इकाई परमाणु में आवेश की समता ही परमाणु का स्वस्थ रहना है। जिस प्रकार प्राणी दोष, धातु, अग्नि और मल आदि में समत्व से ही स्वस्थ रह सकता है उसी प्रकार परमाणु भी आवेशों के समत्व की स्थिति में ही, स्थिर-स्वस्थ रह सकता है। समत्व का सिद्धान्त परमाणु के विभिन्न इलेक्ट्रान आवरणों में स्थित इलेक्ट्रानों पर भी लागू होता है। ऊर्जा और घूर्णन (स्पिन) में यदि समता न स्थापित हो सके तो ऐसे दो इलेक्ट्रान एक आवरण में नहीं रह सकते, वे ऊर्जा मुक्त कर या स्थान छोड़ कर समत्व स्थापित करते हैं।

जब समस्त प्रकृति के मूल परमाणुओं तक में समता है और वे स्थिर रहने का प्रयास करते हैं और स्वस्थ रहते हैं तो समस्त जगत को भी स्वास्थ्य चाहिए। तब फिर जगत् में विकार उत्पन्न ही क्यों होता है। आयुर्वेद में विकार अर्थात् समत्वहीनता को ही रोग कहा जाता है। इस संबंध में कालिदास का एक वचन उल्लेखनीय है-

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां
विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः

शरीरधारी प्राणियों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव मृत्यु है और जीवन विकृति मात्र है। दर्शनशास्त्र के अनुसार जब निर्विकार, निर्विकल्प, निराकार, निर्गुण ईश्वर ने सृष्टि निर्माण की इच्छा की, उसमें इच्छारूपी विकार उत्पन्न हुआ, तभी इस सृष्टि की रचना हो सकी। जब तक सृष्टि में समत्व बना रहा तब तक विकार उत्पन्न नहीं हो सकता था। अतः समत्व में विकार ही जीवन के

प्रादुर्भाव का कारण कहा गया है जीवन अर्थात् विकार, संघर्ष, यही महाकवि कालिदास का अभिप्राय है। चूंकि विकार ही रोग है, कदाचित् इसीलिए जीवन के आधारभूत शरीर को व्याधिमन्दिर 'शरीरं व्याधिमन्दिरम' कहा गया है। आखिर प्रश्न उठता है कि जब समत्व परमाणुओं का स्वभाव है तो फिर विकार के रूप में रोगों की उत्पत्ति ही नहीं, जीवन की उत्पत्ति भी कैसे हुई। सृष्टि में, मूलरूप में विकार की सत्ता होनी चाहिए। ज्योतिर्विज्ञानी बताते हैं कि संपूर्ण पृथ्वी आवेश की दृष्टि से सम नहीं है अपितु इसमें ऋणवेश अधिक है। कदाचित् यही वह विकार है जो इस पृथ्वी पर जीवन के प्रादुर्भाव का कारण हो क्योंकि विकार के बिना जीवन नहीं उत्पन्न हो सकता। ज्योतिर्विज्ञानी एवं जीव विज्ञानी जीवन की उत्पत्ति का रहस्य सुलझाने में निरन्तर रत हैं। कदाचित् उपर्युक्त विकार को ध्यान में रखते हुए शोध कार्य हो तो रहस्य का कोई सूत्र पकड़ में आ सके।

भारतीय विचारधारा सदैव कर्मवादी रही है। यद्यपि भारत में भाग्यवाद के भी प्रबल समर्थक रहे हैं, परन्तु उनसे कर्मवाद की आधारशिला पर कोई आघात नहीं हो सका। विश्व में समादृत भारत के दर्शन संबंधी अलौकिक उपदेश गीता में श्रीकृष्ण ने भ्रम में पड़े हुए अर्जुन को कर्म की ही प्रेरणा दी थी। आयुर्वेद भी कर्मवाद का अन्यतम उदाहरण है। यदि अस्वस्थता, रोग आदि भाग्य से उत्पन्न होकर भाग्य से ही दूर होने का सिद्धान्त अर्थात् भाग्यवाद मान्य होता तो ऋषि मुनियों को आयुर्वेद के प्रणयन की आवश्यकता ही न पड़ती। यदि भारतीय संस्कृति आदि में ह्रास हुआ है तो उसके कारण इतिहास में ढूंढने होंगे। इसके लिए संस्कृति दोषी नहीं हो सकती।

आयुर्वेद अपौरुषेय है, सार्थक नाम है, समता के सिद्धान्त पर आधारित है और कर्मवाद का प्रखर समर्थक भी है इसके अलावा भी आयुर्वेद की कई विशेषताएं हैं।

भारतीय दर्शन एवं विचारधारा के अनुसार ईश्वर से प्रकृति उत्पन्न हुई। प्रकृति से जीवात्मा, बुद्धि, मन और पंच तन्मात्राएं उत्पन्न हुई। पंच तन्मात्राओं का ही व्यक्त रूप पंच महाभूत है। समस्त सृष्टि पंच महाभूतों से निर्मित है। इस प्रकार स्थूल सृष्टि के मूल में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये तत्व हैं। आधुनिक विचारकों के अनुसार समस्त सृष्टि पदार्थ से निर्मित है। पदार्थ के तीन रूप हैं: ठोस, द्रव और गैस। परन्तु पंच महाभूतों का सिद्धान्त तत्वों के केवल स्थूल रूप पर आधारित नहीं है, अपितु वह ज्ञानेन्द्रियों से संबंद्ध है, अतः आधुनिक विचारधारा से भी अधिक सूक्ष्म है। इसी आधार पर 'पुरुष' की परिभाषा 'पंचमहाभूत शरीरि समवायः' बताई गई है। पंचमहाभूतों के उल्लेख से केवल मुक्त पदार्थों का ही ज्ञान नहीं होता, जिससे स्थूल शरीर बना है बल्कि इसमें चेतनास्वरूप ज्ञानेन्द्रियों का भी समावेश हो जाता है।

अन्य चिकित्सा पद्धतियों और आयुर्वेद में एक विशेष भिन्नता यह भी है कि अन्य पद्धतियों में रोग की चिकित्सा की जाती है, जबकि आयुर्वेद के अनुसार पुरुष की चिकित्सा की जानी चाहिए क्योंकि यद्यपि रोग एक ही होता है, परन्तु प्रकृति भिन्नता अर्थात् दोष-वैषम्य, धातु-वैषम्य और गुण-वैषम्य में भिन्नता के कारण एक ही रोग की चिकित्सा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न होगी। यही कारण है कि आजकल रोग विशेष के लिए जो पेटेण्ट दवाएं सभी रोगियों को दी जाती हैं, उनके प्रभाव व्यक्तिशः भिन्न-भिन्न होते हें और कई रोगी दवाओं के प्रभाव से अन्य विकारों से रुग्ण हो जाते हैं।

भारतीय विचारधारा और विशेषतः आयुर्वेद में व्यक्ति को पांच कोशों से निर्मित बताया गया है। ये पांच कोश हैं- अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश, जो क्रमशः स्थूल शरीर, जीवन (प्राण/चेतना), मन, बुद्धि और आत्मा से संबद्ध हैं। यह सिद्धान्त स्थूल-सूक्ष्म, जड़-चेतन, आत्मा-परमात्मा सभी का समावेश करता

है। इसी कारण केवल शरीर का स्वास्थ्य ही नहीं, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक स्वास्थ्य भी स्वस्थ पुरुष के लिए आवश्यक है।

प्रकृति के तीन गुण हैं- सत्व, रज और तम। दर्शनशास्त्र के इस सिद्धान्त को आयुर्वेद में त्रिदोष सिद्धान्त के रूप में अपनाया गया है। कफ, पित्त और वात ये दोष प्रकृति के उक्त तीन गुणों का शरीर में प्रतिनिधित्व करते हैं। जब तक वात, पित्त और कफ साम्यावस्था में रहते हैं, व्यक्ति रोग से ग्रस्त नहीं हो सकता। जब आहार, विहार में त्रुटि, अतिसेवन, अल्पता से दोषों की समता में विभेद उत्पन्न होता है तभी रोगों का आक्रमण होता है।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति के अनुसार अधिकांश रोग कीटाणु या विषाणु के आक्रमण से होते हैं। परन्तु इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि कीटाणु और विषाणु सर्वत्र विद्यमान है और सभी व्यक्ति उनकी चपेट में सदैव आते रहते हैं, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में रोग उत्पन्न नहीं होते। आयुर्वेद के अनुसार इसका सीधा कारण यही है कि प्रत्येक व्यक्ति में दोषों की स्थिति भिन्न होती है और कीटाणु/विषाणुओं का आक्रमण एक सा नहीं हो पाता अतः आयुर्वेद का दोषों की साम्यावस्था का सिद्धान्त कीटाणुओं/विषाणुओं के आक्रमण से बचने का सही उपाय है। यदि आहार और विहार पर नियंत्रण रखा जाय और दोष, धातु, अग्नि की साम्यवस्था शरीर में बनी रहे तो अधिकांश कीटाणु/विषाणु जन्य रोगों के आक्रमण की कोई संभावना नहीं रहेगी।

आयुर्वेदीय चिकित्सा

'कित् रोगापनयने' धातु से निष्पन्न चिकित्सा शब्द का अर्थ ही रोगों का निवारण है। 'प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्से त्यभिधीयते'' के अनुसार वैद्य की रोग निवारण के लिए सोद्देश्य प्रवृत्ति ही चिकित्सा है। धातु वैषम्य रूपी

विकार को दूर कर साम्यावस्था-स्वस्थता लाना ही चिकित्सा है। चरक के समय में चिकित्सा तीन रूपों में थी:

(1) दैव व्यपाश्रय

(2) युक्ति व्यपाश्रय और

(3) सत्वावजय।

दैव व्यपाश्रय के अधीन ईश्वरोपासना, मंत्र, मणि, बलि, हवन, नियम, प्रायश्चित, उपवासादि आते हैं। युक्ति व्यपाश्रय में आहार, औषधि आदि की योजना और सत्वावजय के अधीन अहित पदार्थ आदि के संबंध मैं मनोनिग्रह आता है। प्राचीन काल में ही दैव व्यपाश्रय संबंद्ध चिकित्सा गौण हो गई थी।

चिकित्सा के चार पाद आयुर्वेद में बताये गये हैं। वे हैं

(1) गुणवान वैद्य

(2) गुणकारक द्रव्य

(3) गुणवान परिचारक और

(4) रोगी

रोगी के लिए भी यह आवश्यक है कि वह वैद्य के निर्देश का पूर्ण पालन करें और वैद्य को अपना पूरा हाल बताये, कुछ भी न छिपाये।

आयुर्वेद की चिकित्सा में वानस्पतिक औषधियों का विशेष महत्व है। वनस्पतियां सर्वत्र सुलभ होती हैं, सस्ती होती हैं और उनका कोई गंभीर कुप्रभाव नहीं होता। वनस्पतियों का उपयोग भी प्रायः उनके मूलरूप में यथा जड़, तना, पत्ते, फूल और फल के रूप में होता है अतः आयुर्वेदीय चिकित्सा अमीर-गरीब सभी के लिए उपलब्ध हो जाती है।

आयुर्वेद में अनुपान पद्धति का बहुत महत्व है। अन्य चिकित्सा पद्धतियों में इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। अनुपान की योजना दोषवैषम्य, अग्नि की स्थिति, रोगावस्था को ध्यान में रखकर की जाती है, जिससे औषधि का रोगी पर समुचित प्रभाव होता है। एक ही औषधि विभिन्न अनुपानों के प्रभाव से भिन्न-भिन्न रोगों में प्रभावी होती है।

आयुर्वेद के अनुसार *'नानौषधिभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमस्ति'* अर्थात् संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो औषधि के रूप में प्रयुक्त न की जा सके। यहां तक कि गृह धूम कज्जली, चूहे की विष्ठा, बकरी/घोड़ा/ऊंट आदि के मूत्र का भी औषधि के रूप में विधान है।

रोग की पहचान और उसका कारण जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उसके आधार पर ही चिकित्सा प्रभावी हो सकती हैं निदान के लिए चरक ने निदान पंचक, यथा निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और अनुपशय तथा संप्राप्ति, बताये हैं।

रोग के ज्ञान के लिए अष्ट स्थान परीक्षा, और दशविध परीक्षा का विधान है।

अष्टस्थान परीक्षा में नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा शब्द, स्पर्श, दृक और आकृति की परीक्षा बताई गई है।

दशविध परीक्षा मे दूष्य, देश, बल, काल, अनल, वय, सत्व, सात्म्य, प्रकृति और आहार की परीक्षा बताई गई है। इस प्रकार निदान के विषय में भी आयुर्वेद परिपूर्ण है।

औषधि रूप द्रव्यों के भी रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव को ध्यान में रखते हुये ही औषधि योजना का विधान है।

सामान्यतया भारतीय परम्परा पर एक अभियोग यह लगाया जाता है कि जो कुछ शास्त्रों में कहा गया है वही अन्तिम है किसी नई बात को ग्रहण करना शास्त्र विरुद्ध होने के कारण ग्राह्य नहीं होता। परन्तु यह अभियोग पूर्णतया निराधार है। चरकसंहिता के विमान स्थान में कहा गया है-

"बुद्धिमतोमित्रस्यापि धन्य यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौकि- कमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं" अर्थात् शत्रु भी यदि कोई अच्छी बात कहे तो उसे भली भांति सुन-समझकर ग्रहण करना चाहिए। इसी आधार पर प्राचीन काल में समय-समय पर ऋषियों की संगोष्ठियां (विद्वत् संभाषाएं) होती थीं और अनुभवों के आधार पर नई-नई धारणाओं को मान्यता दी जाती थी। आयुर्वेद ने सदैव नई-नई पद्धतियों, औषधियों आदि को आत्मसात् किया है। प्राचीन काल में नाड़ी परीक्षा का विधान नहीं मिलता परन्तु बाद में योग एवं बाह्यप्रभाव से आयुर्वेद के पंडितों ने नाड़ी परीक्षा का महत्व समझा और उसे आत्मसात् किया। रसायनों के संबंध मे भी यही स्थिति है और अनेक औषधियां, जिनका ज्ञान बाद में हुआ, आयुर्वेद में सम्मिलित की गई। इस प्रकार आयुर्वेद में प्रगति की जीवन्त परम्परा निरन्तर चलती रही है।

आयुर्वेद मनुष्य की उत्पत्ति के समय से प्राप्त अनुभवों का भंडार है। नये अनुभूत प्रयोगों द्वारा आयुर्वेद का विषय-विस्तार होता रहा है और यह परंपरा निरन्तर चलती रही है। इसीलिए आयुर्वेद में प्रारंभ से ही स्वस्थवृत्त पर विशेष बल दिया जाता रहा है। यदि आहार-विहार पर मनुष्य पर्याप्त नियंत्रण रखेगा तो उसके दोष, धातु, मल, अग्नि सदैव साम्यावस्था में रहेंगे। यह साम्यावस्था अपने-आपमें रोग प्रतिबन्धक है।

आज संसार में आयुर्वेद के अलावा जो अन्य चिकित्सा पद्धतियां हैं उनमें तीन प्रमुख हैं-

1. एलोपैथी

2. होम्योपैथी

3. यूनानी।

जहां तक एलोपैथी और होम्योपैथी का संबंध है, वे केवल रोग चिकित्सा हेतु ही प्रादुर्भूत हुई हैं। एलोपैथी विषम चिकित्सा है और होम्योपैथी सम चिकित्सा है। ये दोनों चिकित्सा पद्धतियां अपने-अपने मूल सिद्धान्त के आधार पर चिकित्सा का विधान करती हैं। यदि इन चिकित्सा पद्धतियों के सिद्धान्तों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि आयुर्वेद में ये दोनों सिद्धान्त समाविष्ट हैं। आयुर्वेद में विषम चिकित्सा के साथ ही सम चिकित्सा के भी प्रयोग हैं। अतः जहां उक्त चिकित्सा पद्धतियां एकांगी हैं, वहीं आयुर्वेद समष्टि पर आधारित हैं। जहां तक यूनानी चिकित्सा पद्धति का संबंध है, वह देशभेद और कालभेद से आयुर्वेद से अलग हुई-सी लगती है, अन्यथा दोनों का सैद्धान्तिक आधार एक सा ही है। इतिहास में उल्लेख है कि सिकन्दर अपनी विजय के पश्चात अपने साथ कुछ वैद्यों को भी ले गया था। तभी से आयुर्वेद व यूनानी चिकित्सा पद्धतियों में ज्ञान का आदान-प्रदान होता रहा है।

आयुर्वेद का वैदिक उद्‌भव

यह तो हुआ आयुर्वेद के संबंध में संक्षिप्त निवेदन। अब आयुर्वेद के भूतकालिक 'कल' के बारे में विवरण देना आवश्यक है तभी हम आयुर्वेद के 'आज' और भविष्यकालीन 'कल' का आकलन कर सकेंगे। सामान्यतया जब भूतकाल की बात की जाती है तो वह अनद्यतन परोक्ष और सुदूरवर्ती ही होता है। परन्तु आयुर्वेद के 'आज' के विषय में तभी सोचा जा सकता है, जब भूतकाल के संबंध में भी आयुर्वेद के प्रादुर्भाव से लेकर अब तक के संपूर्ण

काल में हुई प्रगति/दुर्गति का विवेचन किया जाय। इस संक्षिप्त पुस्तक में संपूर्ण इतिहास की विवेचना असंभव है, अतः 'आज' की सही स्थिति तक पहुंचने के लिए इतिहास के मुख्य-मुख्य सोपानों का उल्लेख मात्र किया जा सकेगा।

भारतीय विचारधारा के अनुसार सभी शास्त्रों या ज्ञान-विज्ञान संबंधी समस्त उत्पादनों का प्रादुर्भाव हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से हुआ है। आयुर्वेद ऋग्वेद या अथर्ववेद का उपवेद तो कहा ही गया है परन्तु उसे पंचमवेद की संज्ञा गई है। चरक के अनुसार 'आयु' अर्थात् जीवन के प्रारंभ से ही आयुर्वेद का अस्तित्व है। सुश्रुत के अनुसार ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद का प्रणयन किया था। चरकाचार्य ने कहा है कि ब्रह्मा से दक्षप्रजापति ने, दक्ष से अश्विनी कुमारों ने, उनसे इन्द्र ने, इन्द्र से अत्रि ने, अत्रि से आत्रेय पुनर्वसु ने और पुनर्वसु से अग्निवेश आदि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। सुश्रुत संहिता में वर्णित क्रम के अनुसार इन्द्र तक क्रम वही है। इन्द्र से धन्वन्तरि ने और धन्वन्तरि से सुश्रुतादि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार चिकित्सा एवं शल्य तंत्र के दो संप्रदाय अलग हुए जिन्हें क्रमशः आत्रेय संप्रदाय और धान्वन्तर संप्रदाय कहा जाने लगा।

आयुर्वेद का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से होने और उपवेद या पंचम वेद कहे जाने से स्पष्ट है कि इसके बीज वेदों में हैं। लोकमान्य तिलक के अनुसार ऋग्वेद का काल ई.पू. 6000 से 4000 तक है और अथर्ववेद का काल ई.पू. 2000 है। अथर्ववेद में परीक्षित् का उल्लेख होने के कारण कुछ विद्वान् अथर्ववेद का काल ई.पू. 1500 मानते हैं।

ऋग्वेद में यत्र-तत्र आयुर्वेद से संबद्ध ज्ञान का उल्लेख है। रुद्र, अग्नि, इन्द्र, वरुण को तथा विशेष रूप से अश्विनी कुमारों को 'देवानां भिषजौ' कहा

गया है। स्पष्ट है ऋग्वेद के समय भिषक् संस्था विद्यमान थी। अश्विनी कुमारों द्वारा अंग प्रत्यारोपण और संजीवनी विद्या के प्रयोग का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इन्द्र द्वारा चर्मरोग का निवारण, खालित्यनाश, अंधे को दृष्टिदान और पंगु को गति दिये जाने का भी उल्लेख ऋग्वेद में है। ऋग्वेद में औषधिसूक्त (1047) उल्लेखनीय है जिसमें औषधियों का स्वरूप, स्थान, कर्म, वर्गीकरण और प्रयोग विहित है। भिषक दैव व्यपाश्रय और युक्ति व्यपाश्रय दोनों प्रकार की चिकित्सा करते थे। वे रोगोत्पादक राक्षसों का विनाश और औषधियों द्वारा रोग निवारण करते थे।

विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः (ऋ 10/97/6) रोगों के कारण के रूप में दोष और कृमि का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इसके अलावा पशु-चिकित्सा, सूर्य-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, अग्नि-चिकित्सा और वायु-चिकित्सा का भी संक्षिप्त उल्लेख बीजरूप में ऋग्वेद में विद्यमान है।

इसी प्रकार यजुर्वेद में भी अर्श आदि रोग, शरीरांग, त्रिदोषवाद आदि के संकेत उपलब्ध होते हैं। दृष्टि प्राप्ति, यक्ष्मा, राजयक्ष्मा और उन्माद के उल्लेख महत्वपूर्ण हैं।

अथर्ववेद आयुर्वेद का स्रोत है अतः उसमें आयुर्वेद संबंधी सामग्री प्रचुर मात्रा में है। ऋग्वेद में जो आयुर्वेद संबंधी तथ्य संकेत रूप में हैं उनका विशदीकरण अथर्ववेद में हुआ है। अथर्ववेद में त्रिदोषवाद का स्पष्ट रूप लक्षित होता है। उसमें वात के पांच प्रकार पित्त और बलास (कफ) वर्णित हैं। विश्वंभर आदि तीन अग्नियों का उल्लेख अथर्ववेद में उपलब्ध है। सायण ने विश्वंभर अग्नि को अपनी व्याख्या में जाठराग्नि कहा है। ओज, रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र आदि का स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। शरीर के विभिन्न अंग प्रत्यंग भी इसमें वर्णित हैं। रोगों का भी पर्याप्त वर्णन

को प्राप्त हुआ। धन्वन्तरि से प्रसृत ज्ञान को आगे चलकर आठ अंगों में विभाजित किया गया जिसमें एक शल्यतंत्र भी था। इसी तंत्र को प्रमुखता देते हुए धान्वंतर संप्रदाय में काशिराज दिवोदास ने, जिन्हें धन्वन्तरि द्वितीय भी कहा जाता है, आयुर्वेद को एक विशिष्ट रूप प्रदान किया और अपने बारह शिष्यों को पढ़ाया। वृद्ध सुश्रुत भी उनमें से एक थे। धान्वन्तर संप्रदाय के तंत्र को, जिसे दिवोदास ने व्यवस्थित कर सुश्रुत को प्रदान किया उपबृंहित कर वृद्धसुश्रुत ने संकलन किया जो सुश्रुत संहिता कहलाई और शल्यतंत्र के उपजीव्य ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुई। कालक्रम की दृष्टि से दिवोदास और वृद्धसुश्रुत का काल ई. पू. 1500-1000 कहा जाता है। सुश्रुत ने ईस्वीय दूसरी शती में इस संहिता का प्रतिसंस्कार किया। पांचवीं शती में नागार्जुन द्वारा इस संहिता का प्रतिसंस्कार हुआ। पुनः दसवीं शती में चन्द्रट ने इस संहिता का संस्कार किया जो इस प्रकार धान्वन्तर संप्रदाय के अधीन शल्यतंत्र के आधारभूत ग्रंथ के रूप में ई.पू. 1500 से ईसवी 10वीं शती तक उपबृंहित और प्रतिसंस्कृत रूप में हमें उपलब्ध है।

इसी प्रकार पुनर्वसु आत्रेय द्वारा जो ज्ञान अपने शिष्यों को प्रदान किया गया उसे आत्रेय संप्रदाय कहते हैं। आत्रेय के शिष्य अग्निवेश ने उन उपदेशों को तंत्ररूप में निबद्ध किया, जिसे अग्निवेश तंत्र कहा गया। आत्रेय के अन्य शिष्यों ने भी उन उपदेशों को अपने-अपने ढंगों से संकलित कर अलग-अलग तंत्रों की रचना की। इनमें अग्निवेश तंत्र, जो सूत्ररूप में था, सर्वाधिक प्रचारित हुआ। महर्षि चरक ने अग्निवेश तंत्र पर भाष्य लिखकर उसे उपबृंहित किया। इसे बाद में चरक संहिता कहा जाने लगा। दृढबल ने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया। इतिहासकारों ने अग्निवेश का काल ई.पू. 1000 चरक का काल ई.पू. 200 और दृढ़बल का काल ईसवीय चौथी शती माना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्रेय संप्रदाय के अधीन काय चिकित्सा

और धन्वन्तर संप्रदाय के अधीन शल्य तंत्र के संहिता ग्रन्थों का विकास, उपबृंहण और संस्कार/प्रतिसंस्कार कालक्रम की दृष्टि से समानान्तर और समसामयिक रूप से होता रहा।

सुश्रुत संहिता और चरक संहिता आयुर्वेद के दो आधार हैं। अतः इन संहिताओं में वर्णित विषयों का आकलन इतिहास की दृष्टि से नितान्त अभीष्ट है। सुश्रुत संहिता आकर ग्रन्थ मानी जाती है। वाग्भट नैषदिचरित में इसका उल्लेख है। कम्बोडिया के राजा यशोवर्मन् (889-900 ई.) के शिलालेख में भी सुश्रुत का नाम आदरपूर्वक लिया गया है। अरबी चिकित्सक रेजस की कृतियों में सुश्रुतसंहिता उद्धृत है। यह शल्य प्रधान ग्रन्थ है जिससे शल्य चिकित्सा की तत्कालीन समुन्नत स्थिति प्रकट होती है। शवच्छेद, व्रणितागार, यन्त्र कर्म, शस्त्र कर्म, संधान शल्य, क्षार, अग्नि-जलौका का उपयोग इसकी विशेषताएं है।

संधानशल्य आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी का ही रूप था। शारीर के संबंध में सुश्रुत संहिता अप्रतिम समझी जाती है। इसके अलावा काय चिकित्सा, स्वस्थवृत्त, अगदतंत्र, भैषज्य कल्पना के अनेक विशिष्ट प्रयोग इसमें वर्णित है। 'समदोष : समाग्निश्च ' स्वस्थ की यह परिभाषा सुश्रुत संहिता की ही देन है। द्रव्यगुण विज्ञान के क्षेत्र में भी सुश्रुत संहिता में रस, गुण, वीर्य, विपाक का सविस्तार विवेचन किया गया है। सुश्रुत संहिता में कुछ नयी औषधियों का भी समावेश दृष्टिगोचर होता है। द्रव्यों का वर्गीकरण और खनिज द्रव्यों का त्रप्वादिगण इसकी विशेषता है। इस प्रकार सुश्रुत संहिता शल्यतंत्र और शारीर का मूलग्रंथ है और भारतीय आयुर्वेद में इसका स्थान अक्षुण्ण है।

चरक संहिता का स्थान भी आयुर्वेद में अक्षुण्ण और अप्रतिम है। इसमें मुख्य रूप से कायचिकित्सा का प्रतिपादन हुआ है। आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का

अत्यन्त गंभीर विवेचन इसमें उपलब्ध है। वाग्भट ने चरक संहिता को प्र
स्थान दिया है। नैषध चरित में इसका उल्लेख है। फारसी और अरबी
इसका अनुवाद हुआ था। अलबरूनी ने भी इसका ससम्मान उल्लेख किया

चरक संहिता में संभाषा परिषद के संबंध में महत्वपूर्ण विचार हैं उस
तत्कालीन वैज्ञानिक शोध समीक्षा और आपसी विचार-विमर्श और अनुभ
के आदान-प्रदान को कितना महत्व दिया जाता था यह स्पष्ट हो जाता
चरक संहिता में त्रिदोष सिद्धान्त को व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप दिया ग
है। पंच महाभूत और रस- गुण-वीर्य-विपाक के सिद्धान्तों का भी वैज्ञानि
निरूपण चरक संहिता में मिलता है। चरक संहिता में परीक्षणात्मक दृष्टिको
को अपनाया गया है। इसमें शरीर के साथ ही मानस को भी महत्व दिया ग
है। अतः चेतना सहित समष्टि पुरुष की चिकित्सा का इसमें विधान हैं। रो
के पूर्वरूप, संप्राप्ति और उपशय का विवेचन करते हुए निदान की मह
प्रतिष्ठित की गई है। दशविध परीक्षा चरक संहिता की महत्वपूर्ण देन है। इस
प्राकृतिक चिकित्सा पर बल दिया गया हैं अतः *'स्वभावो परमवाद'* को मह
दिया गया है। औषधियां, आचार रसायन, सद्वृत्त चरकसंहिता की देन
इस प्रकार स्पष्ट है कि चरक संहिता ने आयुर्वेद को पूर्णतया वैज्ञानिक आध
प्रदान किया है। अतः इसे युगप्रवर्तक ग्रन्थ कहा जाता है।

उसी समय भेल, हारीत आदि अन्य महर्षियों द्वारा भी संहिताओं की रच
हुई परन्तु महत्व और लोकप्रियता सुश्रुत संहिता और चरक संहिता को
प्राप्त हुई जिसके कारण अन्य संहिताओं का प्रचलन अधिक न हो सका।

सुश्रुत संहिता और चरक संहिता को आधार मान कर परवर्तीकाल
अनेक ग्रन्थों की रचना हुई और इन संहिताओं पर अनेक टीकाएं भी लिख
गईं, जिनसे आयुर्वेद का उपबृंहण चलता रहा।

आयुर्वेद का विकास

संसार की समस्त प्राचीन सभ्यताओं के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सभ्यता सभी विधाओं में सर्वोच्च शिखर पर रही है। आयुर्वेद के सिद्धान्त दार्शनिक एवं प्रायोगिक आधार पर अत्यन्त समुन्नत थे। प्राचीन मिस्र और यूनानी सभ्यताओं ने भी भारतीय आयुर्वेद के सिद्धान्तों को ही अपनाकर चिकित्सा शास्त्र का विस्तार किया। ग्रीस के पाइथागोरस और हिपोक्रेटिस भी, जिन्हें पाश्चात्य देश चिकित्साशास्त्र के जनक कहते हैं, अपने सिद्धान्तों के लिए भारतीय आयुर्वेद के ऋणी थे।

शारीर शास्त्र, शवच्छेद, शल्य एवं शालाक्य भी प्राचीन भारत में अत्यन्त समुन्नत अवस्था में थे। अन्य देशों ने शल्यतन्त्र भारत से ही सीखा इसके इतिहास में कई प्रमाण हैं। परन्तु भारत में बुद्ध के अवतरण के पश्चात् अहिंसा का सिद्धान्त प्रमुख हो गया और बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ यह जनजीवन में दृढमूल होकर व्याप्त हो गया। परिणामतः शल्यतंत्र को हिंसा के रूप में देखा जाने लगा और उसकी प्रगति में अवरोध उत्पन्न हुआ। शल्य क्रिया के स्थान पर कुछ सीमा तक पंचकर्म अर्थात् वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन और नस्य का प्रचार बढ़ा परन्तु अहिंसा के सिद्धान्त ने पंचकर्म को भी पनपने नहीं दिया। ऐसी स्थिति में इस बात की तीव्र आवश्यकता अनुभव की गई कि ऐसी कोई औषधि योजना उपलब्ध हो सके जो गंभीर रोगों के लिए जिनमें शल्यक्रिया या पंचकर्म का सहारा लिया जाता था, उपयोगी हो सके। बौद्धों ने इस दिशा में पहल की और रसायन औषधियों की योजना प्रारंभ की।

इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि रसायन औषधियों का प्रयोग इससे पूर्व नहीं था। वेदों में अनेक धातुओं का वर्णन उपलब्ध है। अथर्ववेद में

धातुओं का प्रयोग चिकित्सा के लिए बताया गया है। अंजन से अनेक रोगों की चिकित्सा का विधान हैं। सीसा कृमिनाशन के लिए बताया गया है। मणियों का भी उपयोग विष प्रतिकार के लिए वर्णित है। उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रंथों में भी धातुओं और शंख आदि का उपयोग वर्णित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धातुओं का पर्याप्त वर्णन है। पारद की भी धातुओं के साथ गणना की गई हैं। चरक संहिता में लौह, मंडूर, तुत्थ के प्रयोग उल्लिखित हैं। सुश्रुत संहिता में चक्षु अंजन के प्रवाल का उल्लेख मिलता है तथा सुवर्ण, रजत, ताम्र, सीसा, लौह, मंडूर का औषधियों के रूप में प्रयोग बताया गया है। पारद और गंधक का प्रयोग बाह्य लेप आदि के रूप में दिया गया है। चरक और सुश्रुत दोनों संहिताओं में भस्म का उल्लेख नहीं मिलता तथापि धातुओं को अग्नि में तपाकर विभिन्न औषधियों के क्वाथ आदि में निर्वापित कर चूर्ण बनाने की विधि वर्णित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रसायनों का प्रयोग भी पूर्व से चला आ रहा था परन्तु औषधि योजना में वनस्पतियों का उपयोग ही अधिक किया जाता था।

बौद्ध धर्म का एक प्रमुख आधारभूत सिद्धान्त है प्राणिमात्र पर दया। अतः धर्म प्रचार का एक महत्वपूर्ण साधन था रोग चिकित्सा। ऐसी औषधियों की आवश्यकता थी जो शल्य क्रिया के समान तत्काल फलदायक हों। रसायन शास्त्र के रूप में कीमियागिरी प्रचलित थी ही, जिसका उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बहुशः हुआ है। उसी के अनुसरण में चिकित्सा के रूप में पारद एवं अन्य धातुओं के प्रयोग का प्रारंभ हुआ। जनश्रुतियों के अनुसार बौद्धधर्म के दार्शनिक नागार्जुन ने रस शास्त्र को चिकित्सा हेतु उपयोग में लाने के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया। नागार्जुन के अस्तित्व और काल के संबंध में विद्वानों में यद्यपि मतभेद है तथापि इस शास्त्र के साथ नागार्जुन का अटूट संबंध माना जाता है। इतना तो अवश्य ही निश्चित है कि तीसरी शताब्दी से

पूर्व ही रस शास्त्र चिकित्सा के क्षेत्र में स्थापित हो गया था और भस्मों का प्रयोग औषधि योजना का महत्वपूर्ण अंग हो गया था।

तत्कालीन नागार्जुन का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। नागार्जुन द्वारा लिखित जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे विवादास्पद हैं। वाग्भट्ट के अष्टांग संग्रह में रसायन संबंधी अनेक प्रयोग वर्णित हैं। अष्टांग संग्रह में धातुओं के रस, गुण, वीर्य, विपाक का वर्णन है। लौह के तीक्ष्ण और कृष्ण भेद, पद्मराग, महानील, मुक्ता, पुष्पराग, विद्रम, शंख, समुद्रफेन, तुत्थ, गेरू, मैनसिल, हरताल, रसांजन, शिलाजतु आदि वर्णित हैं। अयस्कृति निर्माण की जो प्रक्रिया अष्टांग संग्रह में दी गई है, वह बाद में लिखे गये रसशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित भस्म बनाने की प्रक्रिया के समान है। सातवीं शताब्दी के बाद रस शास्त्र पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गये जो आज उपलब्ध हैं।

रस शास्त्र के प्रचलन के साथ रसायनों का प्रयोग गंभीर रोगों के अलावा सामान्य रोगों में भी बहुतायत से होने लगा। रसायनों की लोकप्रियता के कारण निम्न लिखित श्लोक में स्पष्ट किये गये हैं :

अल्पमात्रोपयोगित्वारुदरूचेरप्रसङ्गतः।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधेभ्योधिको रसः।।

चिकित्सा हेतु रसायन अत्यन्त अल्प मात्रा में दिये जाते हैं। रसायनों की अल्पमात्रा और कोई विशेष कटु आदि स्वाद न होने से इसे लेने में किसी को भी अरुचि नहीं होती। इसके अलावा रसायन तत्काल फलदायी होते हैं, अतः वानस्पतिक औषधियों से रसायन औषधियां श्रेष्ठ हैं।

इसके अलावा रसायन को दैवी चिकित्सा के रूप में रस शास्त्रियों द्वारा प्रतिष्ठित किया गया।

आसुरी मानुषी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता।
शस्त्रै कषायै लौहाद्यैः क्रमेणान्त्या सुपूजिताः।।

चिकित्सा तीन प्रकार की है। शस्त्र क्रिया द्वारा की जाने वाली चिकि आसुरी, कषाय/चूर्ण आदि द्वारा की जाने वाली चिकित्सा मानुषी लौहभस्म आदि रसायनों द्वारा की जाने वाली चिकित्सा दैवी है। आसुरी मानुषी चिकित्सा और मानुषी चिकित्सा से दैवी चिकित्सा श्रेष्ठ है। रसा चिकित्सा पुरुष के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्द कोशों को पुष्ट करती है, अतः इसे बहुत अधिक महत्व दिया गया।

रस शास्त्र के संबंध में वाग्भट्ट द्वारा प्रणीत रसरत्न समुच्चय महत्वपू ग्रन्थ है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह वाग्भट्ट अष्टांग संग्रहकार न हो अन्य कोई वाग्भट्ट हैं, जो बाद में हुए। आठवीं और नवीं शताब्दी में रसशा के संबंध में श्री आदि शंकराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पाद द्वारा "र हृदय" का प्रणयन हुआ जिसमें रसायनों द्वारा शरीर को अजरामर बनाने विधियां बताई गई हैं। वृन्द माधव रचित सिद्ध योग संग्रह में रसायनों निर्माण और प्रयोग के सविस्तार विधान हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में चक्रपाणिद की चरक संहिता और सुश्रुत संहिता पर टीकाओं में रोग चिकित्सा रसायनों का प्रयोग वर्णित है। बारहवीं शताब्दी में रसार्णव तंत्र का प्रणय हुआ। इसके रचयिता अज्ञात हैं। इस ग्रन्थ में रसशास्त्र का उत्तम संग्रह है इसके बाद नाथ संप्रदाय के अन्तर्गत भी रस शास्त्र का विकास हुआ। र रत्नाकर, रसेन्द्र चूडामणि, रस प्रकाश सुधाकर और रस सार, रसेन्द्र चिन्तामणि आदि ग्रन्थ लिखे गये। चौदहवीं शताब्दी में प्रणीत शाङ्गंधर संहिता में भी पारद आदि धातुओं द्वारा निर्मित अनेक रसायनों का उल्लेख है। उसके बाद भी रस रत्न प्रदीप, रस पद्धति, रसेन्द्र सार संग्रह, र कामधेनु, भैषज्य रत्नावली, आदि रसशास्त्र के ग्रन्थ लिखे गये। यह सिलसिला

निरन्तर चलता रहा और बीसवीं सदी में भी रस शास्त्र पर कई ग्रन्थों की रचना हुई है।

रसायनों द्वारा चिकित्सा की परम्परा अक्षुण्ण बनी रही और प्रायः वैद्यों द्वारा काढ़ा, चूर्ण आदि के साथ रसायनों की भी योजना की जाती रही है। रसायनों के संबंध में एक बात तत्काल ध्यान आकर्षित करती है। और वह है विभिन्न रसायन यौगिकों का नामकरण। रसायनों के नाम काव्यमय है। कुछ उदाहरण रोचक होंगे यथा वसन्तमालती, चन्द्रोदय रसायन, मालिनीवसन्त, प्रमदानन्द रस, प्राणेश्वर रस, त्रिभुवन कीर्ति रस, राजमृगाङ्क रस, कनक सुन्दर रस, लक्ष्मी विलास रस, तारकेश्वर रस इत्यादि।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आयुर्वेद निरन्तर प्रगतिशील रहा है। वेदों में रस शास्त्र के जो बीज उपलब्ध हैं वे प्रयोगों द्वारा अंकुरित किये गये और बाद में अनेक रस शास्त्र मर्मज्ञों द्वारा विभिन्न प्रयोगों के आधार पर उन्हें पल्लवित और पुष्पित किया गया।

आयुर्वेद के ग्रंथ-संहिताएं

प्राचीन काल में आयुर्वेद के अन्तर्गत अनेक संहिताओं का प्रणयन हुआ था, परन्तु उनमें से दो संहिताएं ही पूर्णरुपेण उपलब्ध होती हैं। वे हैं चरक संहिता और सुश्रुत संहिता। इनके संबंध में विवरण पूर्व में दिये गये हैं। यद्यपि इन संहिताओं में सभी अंग लिये गये हैं तथा चरक संहिता काय चिकित्सा के क्षेत्र में और सुश्रुत संहिता शल्यतंत्र के क्षेत्र में अग्रणी है। अन्य संहिताओं में आयुर्वेद के किसी एक अंग को लेकर ही विवेचन किया गया है। परिणामतः किसी एक संहिता के अध्ययन से आयुर्वेद के किसी एक अंग विशेष का पूर्ण ज्ञान होता था, सभी अंगों का नहीं। अतः आयुर्वेद के सभी अष्टांगों को लेकर उनका व्यावहारिक ज्ञान सुविधाजनक रूप से मिल सके इस दृष्टि से वाग्भट

द्वारा अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय ग्रन्थ लिखे गये। इनकी शैली, भाषा और विषय वस्तु की पूर्णता और निरूपण संहिता ग्रन्थों के अनुसार होने के कारण इन ग्रन्थों को भी संहिता के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। वाग्भट के प्रणीत ग्रन्थों की सर्वांगीणता और व्यावहारिक उपादेयता के कारण वे लोकप्रिय हुए और उनके प्रचलन का पर्याप्त विस्तार हुआ। इतना ही नहीं वाग्भट को चरक और सुश्रुत के समकक्ष सम्मान देते हुए उनके ग्रन्थ को चरक संहिता और सुश्रुत संहिता के साथ-साथ आयुर्वेद की वृहत्त्रयी या वृद्धत्रयी में स्थान दिया गया।

अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय के कर्ता दो अलग-अलग वाग्भट हैं। इस संबंध में ऐतिहासिकों ने बहुत ऊहापोह किया है। अष्टांग हृदय के कर्ता को वृद्ध वाग्भट और अष्टांग संग्रह के कर्ता को वाग्भट कहा जाता है। प्रायः इनका काल पांचवीं और छठी शताब्दी के मध्य माना जाता है।

वाग्भट प्रणीत संहिता में काय चिकित्सा और शल्य तंत्र दोनों प्रमुख संप्रदायों के उपयोगी विषयों का वर्णन किया है। इस एक संहिता के अध्ययन से ही संपूर्ण आयुर्वेद का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है यह इसकी अन्यतम विशेषता है। दक्षिण भारत में इस संहिता की लोकप्रियता आज भी अक्षुण्ण है। इसमें धातुवृद्धि और दोषों का सामंजस्य स्थापित किया गया है। प्रत्येक रोग के लिए वाग्भट ने एक-एक प्रमुख औषधि निर्दिष्ट कर चिकित्सा सुविधाजनक बना दी है। औषधि के रूप में अनेक नये द्रव्यों को भी सम्मिलित किया गया है। रोगों का विस्तृत वर्गीकरण, रोगोत्पत्ति के संबंध में ऋतुसन्धि का उल्लेख, अनेक नये शस्त्रों का वर्णन, विषों का चिकित्सीय प्रयोग, अनेक नवीन रसायनों का विवरण और औषधियों के नये योग वाग्भट की विशेषताएं है। आयुर्वेद के समस्त अंगों को समाविष्ट कर व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करने के कारण वाग्भट के ग्रन्थ वैद्यों के पथ प्रदर्शक के रूप में समादृत हुए।

इस संहिता के अरबी, तिब्बती और जर्मन में भी अनुवाद हुए और इसकी महत्ता के कारण इस पर अनेक टीकाएं लिखी गईं।

इसके बाद भी विद्वानों ने आयुर्वेद के विभिन्न अंगों पर अनेक ग्रन्थ लिखे परन्तु बाद में तीन ग्रन्थों को विशेष महत्वपूर्ण माना गया और उन्हें 'लघुत्रयी' कहकर सम्मानित किया गया। ये ग्रन्थ है माधवकर लिखित रोगविनिश्चय, शार्ड.धर कृत शार्ड.धर संहिता और भावमिश्र कृत भाव प्रकाश। ये तीनों ग्रन्थ अपने-अपने क्षेत्रों में विशिष्ट और अत्यन्त व्यावहारिक, सरल और लोकोपयोगी हैं।

आयुर्वेद से संबंधित कई ग्रन्थों के कर्ता माधव हैं। अतः रोग विनिश्चय के प्रणेता माधव द्वारा ही अन्य ग्रन्थों की रचना की गई अथवा कई माधव हो गये हैं, इस विषय में ऐतिहासिकों को विवेचना कर काल निर्णय करना पडा है। तदनुसार यह प्रायः सर्वमान्य तथ्य है कि रोग विनिश्चयकर्ता माधव का काल सातवीं शताब्दी है क्योंकि माधव ने अष्टांग हृदय के उद्धरण दिये हैं और 9 वीं शताब्दी में हुए वृन्द ने अपने योग संग्रह में रोगविनिश्चय का अनुसरण किया है तथा अरब के हारुन-अल-रशीद के राज्यकाल में 768-809 ई. में माधव कृत रोग विनिश्चय का अरबी में अनुवाद हुआ था।

माधव, जिनका सही नाम माधवकर कहा जाता है, रोग विनिश्चय लिखकर अमर हो गये। यह ग्रन्थ इतना अधिक लोक ग्राहय हुआ कि इसे बाद में 'माधवनिदान' ही कहा जाने लगा। माधवकर ने प्राचीन संहिताओं को आधार बनाकर उनके उद्धरण देते हुए और अपने स्वयं के अनेक नवीन सिद्धान्तों का समावेश करते हुए रोगों के निदान के संबंध में स्वतंत्र ग्रन्थ 'रोगविनिश्चय' की रचना की। उनकी अपनी ही प्रतिज्ञा थी कि अल्पमति, अल्पविद्या वालों को सरलता से यह ग्रन्थ रोगों का ज्ञान करायेगा। वास्तव में

यह ग्रन्थ कर्ता की प्रतिज्ञा पर खरा उतरा है। माधव निदान में कई ऐसे विषयों पर, जिनके संबंध में पूर्व संहिताओं के विवरण संक्षिप्त थे, विशद विवेचना की गई है। वात व्याधि, उरुस्तंभ, वातरक्त तथा कतिपय स्त्री रोगों के संबंध में स्वतंत्र और विशद विवेचन किया गया है तथा कतिपय रोगों यथा आमवात, शूल, मेदोरोग आदि के संबंध में मौलिक विचार दिये गये हैं। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से किसी भी रोग का निदान सरलता से हो सकता है। काय चिकित्सा संबंधी रोगों के अलावा शल्य, शालाक्य, बाल रोग, प्रसूति रोग, विष रोग आदि के निदान का भी इसमें समावेश है।

माधव निदान पर विजय रक्षित की मधुकोष व्याख्या और वाचस्पति की आतंक दर्पण नामक व्याख्या प्रसिद्ध है। माधव निदान का अनुवाद इटालियन और अंग्रेजी में भी किया गया है।

लघुत्रयी में दूसरे स्थान पर शार्ड.धर संहिता है। इस पर 13-14 वीं शती में वोपदेव द्वारा टीका लिखी गई है अतः निश्चयात्मक रुप से शार्ड.धर संहिता का काल 13 वीं शती का पूर्वार्द्ध होगा। मध्यकाल में रचित ग्रन्थों में यही एक ग्रन्थ ऐसा है जिसका 'संहिता' अभिधान सार्थक है। इस ग्रन्थ में तीन खण्ड, 32 अध्याय और 2600 श्लोक हैं। मध्यकाल तक मुगलों का शासन दृढ़ हो गया था और राजपूत सत्ता भी बद्धमूल थी। विदेशियों के आगमन से अनेक नये औषधि द्रव्य, कल्पनाएं और चिकित्सा की विधाएं भारत में प्रचलित हो गई थीं। तांत्रिकों/सिद्धों के संप्रदायों का प्रभाव भी बढ़ रहा था। तत्कालीन समस्त प्रचलित चिकित्सा विधाओं, रोगों, औषधि योजनाओं, रसशास्त्र की प्रवृत्तियों आदि को ध्यान में रखते हुए और व्यावहारिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए शार्डधर संहिता का प्रणयन हुआ।

अपनी विशेषताओं के कारण शार्डधर संहिता को विशिष्ट आदर प्राप्त

हुआ और वह वैद्य समाज में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इस संहिता की विशेषताओं में से कुछ हैं- राशिभेद (मेष, वृषादि), ऋतुओं का विभाजन, नाड़ी परीक्षा, दीपन-पाचन की परिभाषाएं, अहिफेन (अफीम), जैपाल, भांग आदि द्रव्यों का प्रयोग, दोष, धातु, मल की निरुक्ति, वायु के संबंध में विस्तृत विवेचन, रक्तज रोगों का उल्लेख, स्नायुक क्रमि का वर्णन, रोगों का विस्तृत वर्गीकरण, रस, भस्म, रसौषधियों और विषों का वर्णन और औषधीय प्रयोग, धातुओं का शोधन/मारण, पंचकर्म आदि चिकित्सा विधियों का प्रयोग और कतिपय रोगों में विशिष्ट औषधियों की योजना तथा औषधि योगों का संग्रह। वाजीकरण को भी इस संहिता में समाविष्ट किया गया है। अपनी इन विशेषताओं के कारण शार्ङधर संहिता का स्थान आज आयुर्वेद के ग्रन्थों में अक्षुण्ण है।

शार्ङधर संहिता की व्यावहारिकता, सरलता, सर्वांगीणता और लोकप्रियता के कारण उस पर अनेक टीकाएं लिखी गई जिनमें वोपदेव, आढमल्ल, काशीराम और रुद्रभट्ट कृत टीकाएं विशिष्ट हैं। इस संहिता के हिन्दी, गुजराती, मराठी तथा बंगला आदि भाषाओं में भी अनुवाद हुए।

लघुत्रयी की तीसरी कड़ी है भावमिश्र की सुप्रसिद्ध रचना भावप्रकाश। ऐतिहासिकों के अनुसार भावमिश्र सोलहवीं शताब्दी में हुए। यह समय मध्यकाल एवं आधुनिक काल की सन्धि है। अतः भावमिश्र की इस रचना में प्राचीन और मध्यकालीन संहिताओं का अनुसरण और मध्यकाल तक के विचारों का समावेश तो है ही, आधुनिक काल के विचारों की झलक, अनेक मौलिक विचार और नवीन द्रव्यों का भी इसमें दर्शन होता है। इस रचना में शार्ङधर संहिता का स्पष्ट अनुसरण किया गया है और जहाँ तक द्रव्य गुण विज्ञान का संबंध है इसमें मदनपाल निघण्टु का आधार लिया गया है। भावप्रकाश का निघण्टु भाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिसमें अनेकानेक देशी

और विदेशी द्रव्यों के गुणधर्म आदि के विवरण दिये गये हैं। इन द्रव्यों में प्रमुख हैं, अहिफेन, भंग, जयपाल, पारसीक यवानी, खरबूज, पुदीना, लता कस्तूरी, पिण्ड खर्जूर, सुलेमानी, महाभरी वचा, पारसीक वचा, कलम्बक,, चन्द्रशूर, मखाना आदि। द्रव्यों का वर्णन इस रचना में विस्तार से दिया गया है।

सिद्धान्तों के क्षेत्र में आयुर्वेद की व्यावहारिक परिभाषा, प्रकृति और विकृति का पृथक् विवेचन, यकृत का स्पष्ट सविस्तार वर्णन, अष्ट बिन्दु ओज का विवरण आदि भावप्रकाश की विशेषताएं हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी पित्त व्याधि और श्लेष्मव्याधि का सविस्तर विवरण, काश्र्य रोग, ब्रध्नरोग, फिरंग रोग, मासूरिका से अलग शीतला का विवरण, सोमरोग, गर्भनिरोधक कतिपय उपाय, वाजीकरण हेतु विशिष्ट योग, रसौषधों के प्रयोग और कर्पूरासव, अहिफेनासव आदि नवीन योगों के विधान भावप्रकाश की अन्य विशेषताएं है।

भावप्रकाश पर भी कुछ टीकाएं लिखी गईं। परन्तु भावप्रकाश के निघण्टु भाग का काफी प्रचार-प्रसार हुआ। कई भाषाओं में इस भाग के अनुवाद भी हुए। इसका निघण्टु भाग इतना लोकप्रिय है कि उसी के कारण भावप्रकाश को विशिष्ट सम्मान आज भी प्राप्त है।

बृहत्त्रयी और लघुत्रयी के अलावा भी अनेक विद्वानों के आयुर्वेद के अलग-अलग अंगों पर विशिष्ट ग्रन्थों की रचना की और कुछ विद्वानों ने समस्त अंगों का समावेश करते हुए भी ग्रन्थ रचना की। इसके अलावा कई प्रसिद्ध टीकाएं लिखी गई, जिनमें आधारभूत ग्रन्थ के सिद्धान्तों और विचारों की व्याख्या के साथ ही प्राचीन आचार्यो के मतों पर ऊहापोह और तार्किक शैली में मौलिक और नवीन विचारों की प्रस्थापना की गई। प्राचीन काल से

मध्यकाल तक लिखी गई टीकाओं में से कई अतिशय लोकप्रिय हुई और उसका अनुसरण किया जाता रहा।

भट्टार हरिचन्द्र की चरक संहिता पर चरक न्यास व्याख्या, जेज्जट की वृहत्त्रयी पर व्याख्याएं, चन्द्रट की चिकित्सा कलिका पर विवृति, ब्रहमदेव की चरक और सुश्रुत संहिताओं पर व्याख्या, गमराज की सुश्रुत संहिता पर न्याय चन्द्रिका नामक टीका, चक्रपाणि दत्त की चरक संहिता पर आयुर्वेद दीपिका, डल्हण की सुश्रुत संहिता पर निबन्ध संग्रह व्याख्या, विजय रक्षित की माधव निदान पर मधुकोष व्याख्या, अरुणदत्त की अष्टांग हृदय पर सर्वांग सुन्दरा टीका, इन्दु की अष्टांग संग्रह पर शशि लेखा व्याख्या, हेमाद्रि की अष्टांग रसायन व्याख्या, वोपदेव की शार्डधर संहिता पर व्याख्या, आढमल्ल की शार्ड.धर संहिता पर दीपिका टीका, वाचस्पति की माधव निदान पर टीका, शिवदास सेन की चरक संहिता पर तत्व प्रदीपिका, काशीराम वैद्य की शार्डधर संहिता पर गूढार्थ दीपिका व्याख्या आदि अति प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुई हैं। मध्यकाल के अन्त तक आयुर्वेद की गंगा निरन्तर नवीन सिद्धान्तों, व्याख्याओं और प्रकल्पनाओं के प्रवाहों से वृद्धिगत होती रही।

आयुर्वेद में मध्यकालीन ग्रन्थ लघुत्रयी (माधव निदान, शाङ्र्गधर संहिता और भावप्रकाश) अत्यन्त महत्वपूर्ण रहीं। इसमें आयुर्वेद के सभी अंगों का सरल और सविस्तार विवेचन हुआ और व्यावहारिक दृष्टि से ये ग्रन्थ वैद्य समाज में अत्यन्त लोकप्रिय और पथप्रदर्शक रहे। इस समय तक अंग्रेजों का प्रभुत्व भारत में स्थापित होने लगा था और धीरे-धीरे समस्त भारत उनसे पदाक्रान्त होने की स्थिति में आ गया था। भारत की राजनैतिक स्थिति का प्रभाव समाज के प्रत्येक अंग को झकझोर रहा था। आयुर्वेद के विकसित वटवृक्ष को भी इस आंधी का सामना करना पड़ा। फिर भी आयुर्वेदज्ञों ने आयुर्वेद के ज्ञान को विकसित करने के अपने प्रयास नहीं छोड़े।

भावप्रकाश के बाद 19वीं शताब्दी के अन्त में कविराज विनोद लाल सेनगुप्त ने आयुर्वेद विज्ञान की रचना की। इस रचना में उस समय तक प्रचलित आधुनिक चिकित्सा पद्धति के ज्ञान को भी समाविष्ट करने का प्रयास किया गया है। आयुर्वेद विज्ञान को चार स्थानों में विभाजित किया गया है। ये हैं सूत्रस्थान, शारीर स्थान, द्रव्य स्थान और निदान चिकित्सा स्थान। द्रव्य स्थान ग्रन्थकार की नवीन प्रकल्पना थी। जिसमें उस समय तक प्रचलन में आई हुई विदेशी औषधियों यथा इसबगोल, सनाय, चाय आदि का भी वर्णन किया गया है। ग्रंथ में चेचक का भी विवरण दिया गया है।

इसके अलावा संपूर्ण आयुर्वेद को समाविष्ट करने वाले अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ। विष्णु वासुदेव गोडबोले का निघण्टुरत्नाकर, दत्तराम चौबे कृत बृहत् निघण्टु रत्नाकर, हरिदास वैद्य का चिकित्सा चन्द्रोदय, बंगला में द्रेवेन्द्रनाथ सेनगुप्त और उपेन्द्रनाथ सेनगुप्त रचित आयुर्वेद संग्रह आदि भी लोकप्रिय हुए। उन्नीसवीं शती में गंगाधर राय ने चरक संहिता पर जल्पकल्पतरु व्याख्या लिखी जो विद्वत्तापूर्ण है और उसमें आयुर्वेद के दार्शनिक पक्ष की गहन मीमांसा की गई हैं। गंगाधर राय ने आयुर्वेद के विभिन्न विषयों पर भी कई अन्य रचनाएं कीं। गंगाधर राय अपने समय के प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ थे और इनकी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा भारत भर में फैली है। इनके कई शिष्य अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। उनमें से श्री हाराण चन्द्र चक्रवर्ती ने सुश्रुत संहिता पर सुश्रुतार्थ संदीपन भाष्य लिखा। योगीन्द्र नाथ सेन महामहोपाध्याय द्वारका नाथ सेन के पुत्र थे। योगीन्द्र नाथ ने चरकोपस्कार नामक सुबोध व्याख्या लिखी। ज्योतिष चन्द्र सरस्वती की चरक प्रदीपिका टीका तथा जयदेव विद्यालंकार की हिन्दी में चरक संहिता पर टीका लिखी गई। इसी परंपरा में अत्रिदेव विद्यालंकार, राम प्रसाद शर्मा, भास्कर गोविन्द घाणेकर, दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी और लाल चन्द्र वैद्य ने भी टीका ग्रन्थ लिखे हैं।

आधुनिक काल में अन्य कई ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ, जिन में कृष्ण राम भट्ट की भैषज्यमणि मात्रा, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य का सिद्ध योग संग्रह, शलिग्राम वैश्य का शालिग्राम निघण्टु, शंकर दाजी शास्त्री पदे का वनौषधि गुणादर्श, गंगाधर शास्त्री गुणे का आयुर्वेदीय औषधिगुण धर्मशास्त्र, राममिश्र और श्यामसुन्दराचार्य वैश्य का रसायनसार आदि प्रसिद्ध है। इसके अलावा भी बहुत अधिक संख्या में आयुर्वेद संबंधी ग्रंथों का प्रणयन हुआ है।

आधुनिक काल में आयुर्वेद के संबंध में पत्रिकाओं का प्रकाशन भी प्रारंभ हुआ। हिन्दी में सर्वप्रथम मासिकपत्र आरोग्य सुधानिधि श्री नारायण शर्मा राजवैद्य द्वारा कलकत्ता से ई.स. 1901 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद अनेक पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं जिन में शंकर दाजी शास्त्री का सद्वैद्य कौस्तुभ, जगन्नाथ प्रसाद शुक्ला की सुधानिधि, धन्वन्तरि, प्राणाचार्य, अनुभूतयोग माला, आयुर्वेद, स्वास्थ्य, सचित्र आयुर्वेद, आयुर्वेद विकास, वैद्य सम्मेलन पत्रिका, आयुर्वेद सन्देश, नागार्जुन प्रमुख है। इसके साथ ही विभिन्न राज्यों के आयुर्वेद महाविद्यालयों से वार्षिक पत्रिकाएं भी निकलती है। आज भी पत्रिकाओं की परम्परा अक्षुण्ण है। जीवनीय स्वास्थ्य पत्रिका हिंदी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित ऐसी ही एक अनूठी पत्रिका है। भारत की लगभग सभी भाषाओं में आयुर्वेद विषयक पत्रिकाओं का प्रकाशन आज भी हो रहा और उनके द्वारा आयुर्वेद में सिद्धान्तों पर ऊहापोह के साथ, नये अनुभूत प्रयोगों की भी जानकारी दी जाती है। ये पत्रिकाएं वास्तव में आयुर्वेद को आज भी लोकप्रिय बनाये हुए हैं।

आयुर्वेद की वर्तमान स्थिति

आयुर्वेद का अवतरण प्राणिमात्र के दीर्घायुष्य, स्वास्थ्य रक्षण और रोग निवारण के लिए हुआ था, अतः प्रारंभ से ही वैद्यक कार्य सेवाभाव के

अन्तर्गत रहा। वैद्यक व्यवसाय प्रारंभ करने हेतु राजाश्रय आवश्यक होता था। चरक संहिता में प्राणाभिसर (उत्तम वैद्य) और रोगाभिसर (नीम हकीम) दोनों का उल्लेख है। प्राणाभिसर वैद्य आदरणीय होते थे। वैद्य के लिए दक्षिणा भी विहित थी। वैद्यक व्यवसाय सामान्यतया कुल-परम्परागत रूप से चलता था। वैद्य का पुत्र पिता से शिक्षा ग्रहण कर वैद्य होता था। परन्तु बाद में गुरुकुल भी प्रतिष्ठित हुए जिनमें विभिन्न स्थानों के शिष्य एक ही गुरू से शिक्षा ग्रहण करते थे। यही दोनों आज भी विद्यमान हैं परन्तु अब परम्परागत ज्ञान की सीढ़ियां टूटती जा रही हैं। अब ऐसे बहुत कम वैद्य हैं जिनके पीछे कुल परंपरा है। वर्तमान शिक्षाप्रणाली के कारण यह परिवर्तन आ गया है। इस परिवर्तन के कारण कुल परम्परागत ज्ञान और क्रिया की जो गहनता और उपयोगिता थी वह लुप्त होती जा रही है।

भारत में मुसलमानों के आक्रमण और उनके राज्य की स्थापना के बाद यूनानी चिकित्सा को मान्यता मिली परन्तु आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति भी भारतीय हिन्दू राजाओं और जनसामान्य के प्रश्रय में चलती रही। आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा पद्धतियों में मूलभूत समानता होने के कारण दोनों पद्धतियों में आदान-प्रदान का सिलसिला चला, जिससे आयुर्वेद में नई औषधियां और नये प्रयोग समाविष्ट हुए। अंग्रेजों का राज्य स्थापित होने पर एलोपैथी को राज्याश्रय मिला और एलोपैथी के अस्पताल सर्वत्र खुलने लगे। यद्यपि भारतीय राज्यों में अभी भी आयुर्वेद को संरक्षण प्राप्त था और जनसाधारण में भी आयुर्वेद की चिकित्सा प्रचलित रही तथापि एलोपैथी के प्रचार का झटका असह्य था। धीरे-धीरे आयुर्वेद की लोकप्रियता और उपलब्धता घटने लगी। अस्पतालों के साथ ही एलोपैथी की शिक्षा देने वाले मेडिकल कालेज खुलने लगे और भारत में एलोपैथी की शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ।

सन् 1920 में आल इण्डिया कांग्रेस ने अपने नागपुर अधिवेशन में प्रस्ताव पारित किया कि भारत में प्रचलित देशी चिकित्सा पद्धतियों को विकसित किया जाय। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में सरकारी कमेटियां बनाई गई और उन्होंने प्रचलित देशी चिकित्सा पद्धतियों की उन्नति और व्यावसायिक नियंत्रण के लिए सरकारों से सिफारिशें की जिनमें देशी चिकित्सा पद्धतियों की शिक्षा हेतु कालेज और स्वास्थ्य सेवा हेतु औषधालय और अस्पताल खोलने के सुझाव थे। परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश, बिहार, असम, आन्ध्र, बम्बई, केरल, मद्रास, पंजाब, राजस्थान, बंगाल और दिल्ली आदि राज्यों में भारतीय चिकित्सा बोर्डों की स्थापना हुई और कई राज्यों में आयुर्वेद के निदेशालय भी बनाये गये। अब एक केन्द्रीय बोर्ड भी स्थापित हो चुका है।

भारत में 19वीं शदी में राष्ट्रीयता की लहर ने आयुर्वेद को भी आन्दोलित किया। भारत के समस्त वैद्यों को एक मंच पर लाकर आयुर्वेद के पुनरुत्थान के लिए प्रयास करने की आवश्यकता अनुभव की गई। इसमें अग्रणी थे बम्बई के वैद्य शंकर दाजी शास्त्री पदे, जिन्होंने सन् 1907 में निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन की स्थापना की और नासिक में प्रथम अधिवेशन किया। वैद्य पदे के स्वर्गवास के बाद पं. जगन्नाथ प्रसाद शुक्ला ने आजीवन प्रयासरत रहकर इस संगठन को देशव्यापी बनाया और सैद्धान्तिक विचार-विमर्श, विवेचन और आयुर्वेद के पुनरुत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। तत्पश्चात् पं. शिवशर्मा ने इसमें सक्रिय योगदान दिया। परन्तु भविष्य में शुद्ध आयुर्वेद का पक्षधर होने के कारण और देश में मिश्र शिक्षा पद्धति आ जाने के कारण इसकी व्यापकता कम हो गई। आज भी राज्यों में वैद्य सम्मेलन की शाखाएं आयुर्वेद के विकास में कार्यरत हैं।

आयुर्वेद की शिक्षा पद्धति में आधुनिक काल में बार-बार उथल-पुथल होती रही। प्रारंभ से ही आयुर्वेद की शिक्षा गुरु-शिष्य परम्परा से चलती रही थी।

वैद्य सम्मेलन की स्थापना के बाद उसके अन्तर्गत सन् 1908 में आयुर्वेद विद्यापीठ की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य आयुर्वेद की शिक्षा को देशव्यापी स्तर पर संगठित और व्यवस्थित करना था। इस विद्यापीठ ने अखिल भारतीय स्तर पर आयुर्वेद की शिक्षा और परीक्षा का कार्य शुरू किया। उसके बाद 1916 में अहमद नगर में आयुर्वेद कालेज स्थापित हुआ। सन् 1919 में ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, 1922 में गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद महाविद्यालय, कलकत्ता में 1916 में यामिनी भूषण अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय और श्यामादास वैद्य शास्त्रपीठ स्थापित हुए। सन् 1921 में दिल्ली में तिब्बिया एवं आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना हुई। इसी प्रकार मद्रास, पुरी, मुजफ्फरपुर पटना में आयुर्वेद की शिक्षा हेतु व्यवस्था हुई। जयपुर में भी सन् 1865 से ही आयुर्वेद की शिक्षा संस्कृत कालेज में दी जाती थी। धीरे-धीरे वहां स्वतंत्र राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना हो गई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी आयुर्वेद की शिक्षा आरंभ हुई और 1927 में आयुर्वेदिक कालेज प्रारंभ हुआ। वर्ष 1946 में जामनगर में आयुर्वेद कालेज का प्रारंभ हुआ। गोहाटी और पटियाला में भी क्रमशः वर्ष 1948 और 1952 में आयुर्वेदिक कालेज बने। वर्ष 1954 में लखनऊ में राजकीय आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना हुई।

प्रारंभ में तो आयुर्वेद की शिक्षा शुद्ध आयुर्वेद के रूप में चलती रही। परन्तु वर्ष 1935 के लगभग गणनाथ सेन और कैप्टन श्रीनिवास मूर्ति के समर्थन से मिश्र पद्धति अपनाई गई जिसमें आयुर्वेद के साथ ही आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया। इससे आयुर्वेद का स्थान गौण होने लगा और स्नातक एलोपैथिक औषधियों का व्यवहार करने लगे और अपने को वैद्य के स्थान पर डाक्टर घोषित करने लगे। इस पद्धति से कई कठिनाइयां और अशान्ति के कारण उत्पन्न हुए, परिणाम स्वरूप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थापित आयुर्वेदिक कालेज वर्ष 1960 में बन्द कर दिया

गया। मिश्र पद्धति की प्रतिक्रिया में पुनः शुद्ध आयुर्वेद के समर्थन की लहर चली। वर्ष 1962 में केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद् ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम लागू करने का निर्णय लिया। परन्तु फिर भी इसका स्वरूप शुद्ध नहीं रहा। विभिन्न राज्यों में आयुर्वेद के पाठ्यक्रमों में एकरूपता भी नहीं थी। भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् के गठन के बाद उसकी सिफारिश से आयुर्वेद की शिक्षा में एकरूपता का प्रयास हुआ। आयुर्वेद की शिक्षा के विकास में अगला कदम था वर्ष 1956 में जामनगर में आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना और तत्पश्चात् वर्ष 1963 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान का प्रारंभ हुआ।

अनुसन्धान के क्षेत्र में भी स्वातंत्र्योत्तर काल में पहल हुई और वर्ष 1953 में जामनगर में सेन्ट्रल इस्टीट्यूट आफ रिसर्च इन इण्डिजिनस सिस्टम्स आफ मेडिसिन की स्थापना हुई। वर्ष 1969 में सेन्ट्रल कौन्सिल फार रिसर्च इन इण्डियन मेडिसिन एण्ड होमियोपैथी की स्थापना हुई। कालांतर में इसको विभाजित कर केंद्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद, केंद्रीय यूनानी अनुसंधान परिषद्, केंद्रीय योग एवं नौचुरोपैथी अनुसंधान परिषद् एवं केंद्रीय होम्यौपैथी अनुसंधान परिषद की स्थापना की गई। आज विभिन्न आयुर्वेदिक महाविद्यालयों, स्नातकोत्तर संस्थानों और अनुसंधान संस्थानों में आयुर्वेद पर अनुसंधान का कार्य किया जाता है।

आयुर्वेद विकास की संभावनाएं

अंग्रेजों के आगमन के बाद एलोपैथी को राज्याश्रय मिलने से आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति की दुरावस्था प्रारंभ हुई। यद्यपि आयुर्वेद को पुनःप्रतिष्ठित करने हेतु जोरदार प्रयास किये जाते रहे परन्तु आयुर्वेद को वह सम्मान प्राप्त न हो सका जिसका वह अधिकारी है। इसके कई कारण हैं। वह विज्ञान का

युग है। विज्ञान ने उपकरणों, औषधियों और शारीर के क्षेत्र (एनाटमी) में बहुत उन्नति की है। कई प्रकार के नये उपकरण एवं मशीनें व्यवहार में आ गई हैं, जिसे एलोपैथी ने आत्मसात् किया परन्तु आयुर्वेद में उनका उस दृष्टि से उपयोग न हो सका। शरीर की अन्दरूनी जानकारी के संबंध में विज्ञान का योगहान महत्वपूर्ण ही नहीं क्रान्तिकारी रहा है। कोशिकाएं, गुणसूत्र, प्रोटीन आदि का सूक्ष्म विवेचन कर विज्ञान ने जानकारी के नये-नये आयाम खोल दिये हैं। औषधियों के मामले में जो अनुसंधान हुए वे भी एलोपैथी को आधार में रखकर ही हुए हैं। अनुसंधान की रीति भी पाश्चात्य पद्धति का ही अनुसरण करती है। इन सब बातों से एलोपैथी को तो बढ़ावा मिलता रहा परन्तु आयुर्वेद प्रगति की इस वैज्ञानिक दौड़ में उसकी बराबरी न कर सका और पिछड़ता चला गया। इसी कारण आयुर्वेद की लोकप्रियता और प्रभाव भी कम होता चला गया। आयुर्वेद की शिक्षा में भी मिश्र पद्धति अपनाये जाने के कारण आयुर्वेद चिकित्सकों की आने वाली पीढ़ी एलोपैथी के प्रभाव से अपने को मुक्त न रख सकी जिससे आयुर्वेद का प्रयोग निरन्तर घटता रहा। आज आयुर्वेद के पदवीधर चिकित्सक वैद्य के बजाय डाक्टर कहलाना पसन्द करते है और एलोपैथिक दवाओं का व्यवहार प्रचुरता से करते हैं। शिक्षा पद्धति के दोष से आयुर्वेद पर से उनकी भी आस्था कम होती जा रही है। आयुर्वेदीय शिक्षा संस्थाओं में भर्ती की रीति भी आयुर्वेद के लिए हानिकारक सिद्ध हो रही है। चिकित्सा संस्थानों में प्रवेश हेतु ली जाने वाली परीक्षा में योग्यता एवं वरीयता क्रमानुसार एलोपैथी के संस्थानों में प्रथम प्रवेश मिलता है। और योग्यताक्रम में नीचे रहने वाले अभ्यर्थियों को आयुर्वेद में प्रवेश दिया जाता है।

यह सर्वविदित है कि आयुर्वेद के मूलग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं अतः शिक्षार्थी के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान परमावश्यक है परन्तु आज आयुर्वेद विद्यालयों में प्रवेश की पद्धति में इसका कोई ध्यान नहीं रखा जाता इसी प्रकार रुचि

हो न हो विद्यार्थियों को आयुर्वेद शिक्षा संस्थानों में प्रवेश लेना एक विवशता बन गई है। इससे स्पष्टतया आयुर्वेद की शिक्षा में वह गहनता समाप्त होती जा रही है जो आयुर्वेद के आधार को मजबूत रखती। पारंपरिक गुरू-शिष्य परंपरा तो नई शिक्षा पद्धति के प्रचलन के बाद समाप्त ही हो गई है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि आयुर्वेद संबंधी पाठ्यक्रम इस बात को ध्यान में रखकर तैयार किये जायें कि विज्ञान के नये आविष्कारों की पूरी जानकारी विद्यार्थियों को देने के साथ ही आयुर्वेद के सिद्धान्तों और औषधि योजना को पूरा महत्व प्राप्त हो और आयुर्वेद के स्नातकों द्वारा आयुर्वेद के अन्तर्गत ही चिकित्सा की जाय।

यद्यपि आयुर्वेद के लिए अनेक अनुसंधान संस्थान स्थापित हो गये हैं परन्तु अभी तक जो कार्य हुए हैं या तो उनकी दिशा सही नहीं हैं अथवा वे लाभदायक सिद्ध नहीं हो पाये हैं। नये वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोगों के साथ त्रिदोष सिद्धान्त का सामंजस्य स्थापित करना अनुसंधान का महत्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिए।

प्राचीन ग्रंथों से लेकर आज तक आयुर्वेद में जिन वनस्पतियों का उल्लेख है हो सकता है उनमें बहुत सी लुप्तप्राय न भी हों परन्तु उनकी पहचान लुप्त हो गई हो। देश, काल और परिस्थिति में परिवर्तन होने से वनस्पतियों के ग्रंथों में वर्णित गुणधर्म जो हैं उनका परिवर्तित होना भी संभव है। सैकड़ों वर्षों की कालावधि ने वनस्पतियों की किस्मों में भी परिवर्तन अवश्य किया होगा। अतः आज इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक वनस्पति के गुणधर्म, किस्म आदि की नये सिरे से जांच की जाय और आयुर्वेद के सिद्धान्तों के साथ उसका सही तालमेल बिठाया जाय। इस प्रकार के अनुसंधान के बाद ही आयुर्वेद में वर्णित औषधियों का प्रयोग इस नये जमाने में लाभकर सिद्ध होगा।

नवीन अनुसंधान पद्धति में प्रायः एक ही वनस्पति के गुणधर्म की छानबीन की जाती है जबकि सामान्यतया आयुर्वेद की औषधि योजना योगों पर आधारित है अतः अनुसंधान में योगों को सम्मिलित कर उनके प्रभावों का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया जाना चाहिए। ऐसे गहन अनुसंधान के बाद आयुर्वेदिक औषधीय योगों के मानक निर्मित किये जाने चाहिए।

यद्यपि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा प्रतिदिन नये उपकरण, नई खोजें और नई औषधियां विकसित की जा रही हैं तथापि आज प्रदूषण से व्याप्त संसार में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी कसौटी पर खरा नहीं उतर पा रहा है और नये-नये रोग पैदा हो रहे हैं। रासायनिक औषधियों के प्रयोग से अनेक कुप्रभाव भी परिलक्षित हो रहें हैं। कई सामान्य रोग अभी भी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की परिधि में नियंत्रित नहीं हो पाते हैं। इस कारण अब पुनः वनस्पतियों की ओर रुझान पैदा हो रहा है। वैज्ञानिक आयुर्वेद की ओर अब नये दृष्टिकोण से देख रहे हैं। आयुर्वेद के लिए यह आशा की किरण है। आयुर्वेद के ज्ञाताओं और चिकित्सकों को इसका लाभ उठाकर वैज्ञानिक ढंग से प्रायोगिक परीक्षणों द्वारा पुनः आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति को प्रतिष्ठापित करने हेतु कटिबद्ध होना चाहिए। आयुर्वेद का 'कल' स्वर्णिम है और सही दिशा में प्रयासरत रहने पर भविष्य में भी आयुर्वेद समस्त चिकित्सा पद्धतियों में अग्रणी अवश्य होगा।

❖ ❖

जीवनीय सोसायटी

जीवनीय सोसायटी विगत 10 वर्षों से भी अधिक समय से स्वास्थ्य शिक्षा एवं विज्ञान प्रचार के क्षेत्र में कार्यरत है। इसकी स्थापना के पहले से ही इससे जुड़े सभी साथी मानव के सामाजिक विकास से जुड़े विभिन्न आंदोलनों में सक्रिय सहयोगी रहे हैं। जीवनीय सोसायटी की प्रमुख गतिविधियों का उद्देश्य प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा के आत्म-निर्भर माडलों का विकास करना, भारतीय चिकित्सा पद्धतियों के शिक्षण, शोध एवं प्रचार-प्रसार को बढ़ावा देना, जन सामान्य को औषधीय पौधों की बागवानी और उपयोग के आसान तरीकों की जानकारी देना, समाज में विज्ञान की अभिरुचि पैदा करने का प्रयास करना तथा इस हेतु संप्रेषण के विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा जन चेतना विकसित करना शामिल है। सोसायटी ने इन सभी विषयों में गहन कार्य कर जन-जन में स्वास्थ्य हेतु आस-पास पाए जाने वाले औषधीय पौधों की उपयोगिता पर जागरूकता बढ़ाने का कार्य सतत् किया है।

सोसायटी 10 वर्षों तक स्वास्थ्य शिक्षण हेतु हिन्दी और अंग्रेजी में द्वैमासिक स्वास्थ्य पत्रिका जीवनीय का प्रकाशन करती रही है जो जन सामान्य तथा विशेषज्ञों में समान रूप से लोकप्रिय रही है। सोसायटी ने हिन्दी में तीन महानिबंधों का प्रकाशन भी किया है। सोसायटी द्वारा प्रकाशित महानिबंध आहार एवं पोषण के आयुर्वेदीय सिद्धान्त को वर्ष 1995-96 के लिये केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा पुरस्कृत किया गया है। सोसायटी ने अपनी सहयोगी संस्था युवा विज्ञान अकादमी के तत्वावधान में औषधीय पौधों तथा सामान्य रोगों की चिकित्सा पर हिन्दी और अंग्रेजी में भित्ति पत्रकों का प्रकाशन किया है जिनका उपयोग स्वास्थ्य शिक्षा में व्यापक रूप से किया गया है। सोसायटी द्वारा नवसाक्षरों हेतु स्वास्थ्य शिक्षा के विषयों पर तैयार पुस्तिकाओं को वाणी प्रकाशन, दिल्ली ने प्रकाशित किया है। इन पुस्तिकाओं का उपयोग विभिन्न सरकारी और गैर सरकारी साक्षरता आंदोलनों में किया गया है।

विज्ञान प्रचार हेतु संस्था ने भारत सरकार ने राष्ट्रीय विज्ञान एवं तकनीकी संचार परिषद के सहयोग से दो विज्ञान पत्रकारिता पाठ्क्रमों का संचालन किया जिनको लखनऊ विश्वविद्यालय ने मान्यता प्रदान की थी। समय-समय पर संस्था से जुड़े साथियों ने विज्ञान आन्दोलनों जैसे जन ज्ञान विज्ञान जत्था 92 तथा बाल विज्ञान कांग्रेस के आयोजनों में सक्रिय रूप से भाग लिया है। विज्ञान प्रचार की इसी भावना के तहत राष्ट्रीय विज्ञान एवं तकनीकी संचार परिषद के सहयोग से इस पुस्तकमाला का प्रकाशन किया गया है।

लेखक परिचय

पं. काशीनाथ गोपाल गोरे

रत्नागिरी (महाराष्ट्र) मूल के पं. काशीनाथ गोपाल गोरे का जन्म 3 जून, 1936 को वाराणसी में हुआ। ऋग्वेद के ज्ञाता पिता के रहते उन्होंने संस्कृत व वेद-पुराणों-गीता आदि की पारंपरिक शिक्षा पाई। लखनऊ विश्वविद्यालय के बी.ए. व एल.एल.बी. में गोल्ड मेडलिस्ट गोरे जी ने आयुर्वेद, योग, ज्योतिष व संगीत आदि पर काफी स्वाध्याय व अभ्यास किया है। पं. गोरे पिछले दिनों, उ.प्र. सरकार के उपचुनाव आयुक्त के पद से अवकाश प्राप्त होने के पहले भी काफी समय से जीवनीय से सक्रिय रूप से जुड़े रहे हैं।